हिंदी-आलोचना की पृष्ठभूमि और आचार्य रामचंद्र शुक्ल का आलोचना-कर्म

जय प्रकाश

हिंदी में आधुनिक साहित्य के विकास के साथ-साथ आलोचना का भी क्रमशः
विकास हुआ है। भारतेंदु-युग में नए-पुराने का द्वंद्व जिस तरह रचनात्मक साहित्य में सक्रिय था, वह आलोचना साहित्य में भी प्रकट हो रहा था। द्विवेदी-युग में भी यह किसी हद तक जारी था। भारतेंदु-युग में आलोचना की शुरुआत तो हो चुकी थी, लेकिन रचना के सामाजिक और सं दर्यात्मक मूल्य की पहचान की दृष्टि विकसित नहीं हो सकी थी। द्विवेदी-युग में भी आलोचना में वैचारिक और सं दर्यात्मक परिपक्वता उत्पन्न नहीं हो पाई थी। मगर उस दौर में आलोचना की महत्वपूर्ण पद्धतियॅ के विकास के संकेत अवश्य मिलने लगे थे।

- द्विवेदी-युग की हिंदी-आलोचना के भीतर कम-से-कम पाँच तरह की प्रवृत्तियॅ की पहचान की जा सकती है।

1. शास्त्रीय आलोचना
2. तुलनात्मक आलोचना
3. अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना
4. परिचयात्मक आलोचना
5. व्याख्यापरक आलोचना

पहली प्रवृत्ति है, शास्त्रीय आलोचना, जो संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा अर्थात लक्षण-ग्रंथ और काव्यशास्त्र से प्रेरित थी।

दूसरी है, तुलनात्मक मूल्यांकन की पद्धति ,जो युगीन प्रवृतियॅ की बजाय कवियॅ तथा उनके काव्य के गुण-दोष-विवेचन के आधार पर कमतर या श्रेष्ठतर ठहराने के आत्मगत निर्णय पर आधारित थे।

तीसरी पद्धति हिंदी में अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना की प्रवृत्ति थी। यह प्रवृत्ति 1897 में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन के बाद विकसित हुई थी। इस पद्धति के तहत अनेक पुरानी पांडुलिपियॅ के प्रकाशन और उनकी खोज पर ध्यान एकाग्र किया गया।

चौथी प्रवृत्ति परिचयात्मक आलोचना की थी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को इस प्रवृत्ति का पुरस्कर्ता माना जा सकता है। उनके द्वारा संपादित ' सरस्वती ' पत्रिका में कृति के परिचय, उस के विषय की उपादेयता, उसकी प्रशंसा अथवा निंदा के रूप में आलोचनात्मक टिप्पणियां लिखी गईं।

पांचवीं प्रवृत्ति व्याख्यात्मक आलोचना है। व्याख्यात्मक आलोचना कृति तथा उसके अर्थ की यांत्रिक व्याख्या-मात्र नहीं थी। वह नैतिक-सांस्कृतिक और सं दर्यपरक मूल्यॅ के आधार पर कृति के मर्म को उदघाटित करने का प्रयत्न करती थी। भारतेंदु-युग में इस तरह की आलोचना का सूत्रपात बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुंद गुप्त की कुछ समीक्षात्मक टिप्पणियॅ में हो चुका था, लेकिन यह शुरुआती प्रयास था। आगे चलकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सामाजिक विवेक और सं दर्य-विवेक की कसौटी पर रचना का मर्म -विश्लेषण करने की पद्धति विकसित की। उन्हॅने

पारंपरिक साहित्य-बोध को आधुनिक शास्त्रअॅ की कसौटी पर जाँचा। उन्हअॅने सही अर्थों में हिंदी-आलोचना को एक सुगठित और प्रणालीबद्ध अनुशासन के रूप में ढाला। हिंदी -आलोचना के स्थापक व्यक्तित्व के रूप में आचार्य शुक्ल का महत्व असंदिग्ध है। वे हिंदी-आलोचना के शिखर-पुरुष हैं।

आचार्य शुक्ल की आलोचना में तीन महत्त्वपूर्ण गुण दिखाई देते हैं –

1. सामाजिक विवेक
2. नैतिक अंतर्दृष्टि
3. स ंदर्यबोध

इन तीनअॅ के साथ उनकी आलोचना में पारंपरिक शास्त्रीय दृष्टि का संतुलन दिखाई पड़ता है। उन्हअॅने रहस्यवाद को खारिज नहीं किया , बल्कि उसे सामाजिक बोध और लोक-कल्याण से जोड़ कर नए संदर्भ में युक्तिसंगत बनाया। उन्हअॅने ऐसे साहित्य की अनुशंसा की जो स ंदर्य और आत्मबोध के प्रत्यय - लोक से बाहर आ कर अत्याचार और अमानवीयता का प्रतिरोध कर सके। उनके लिए काव्य लोकमंगल की साधना है। आचार्य शुक्ल ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की परंपरा को आगे बढ़ाया। दोनअॅ आचार्यों ने साहित्य में अंधशास्त्रीयता और रीतिवाद का विरोध किया।

शुक्ल जी की आलोचना की कुछ उल्लेखनीय विशेषताओं की चर्चा यहाँ की जा सकती है।

1. शुक्लजी ने रीतिवाद की बजाए यथार्थ-बोध को आधार बनाकर जायसी ,सूर और तुलसी के सृजन की नवीन संदर्भों में व्याख्या की। इस तरह उन्हअॅने हिंदी-आलोचना की आधुनिक दृष्टि का विकास किया।

2. रहस्यवाद के विरुद्ध उनका प्रतिवाद दरअसल रूढ़िवाद और पुनरुत्थानवाद के विरुद्ध सामाजिक यथार्थ के प्रति उनकी पक्षधरता का ही रूपांतर है।

3. कला में अभिव्यंजनावाद का विरोध करते हुए वे दरअसल कलावाद और रूपवाद का प्रतिवाद कर रहे थे।

4. शास्त्र और लोक के बीच संघर्ष में वे लोक के पक्ष में खड़े हुए। इन्द्रिय-बोध और वायवीयता के बीच द्वंद्व में उन्हअॅने इन्द्रिय-बोध की तरफदारी की।

5. उन्हअॅने साहित्य को गतिशील जीवन से जोड़कर देखा। यह जीवन लोक- सामान्य का जीवन है। 'लोकमंगल' शुक्लजी की आलोचना का बीज-प्रत्यय है। वे इसे मूल्यांकन के प्रतिमान की तरह प्रयोग करते हैं।

स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल का लोकवाद आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नैतिक बोध का ही विस्तार है। वे व्यक्तिवाद या कलावाद या स ंदर्यवाद के विरोधी ठहरते हैं। उनका लोक के प्रति आग्रह कलावाद का नैतिक प्रतिपक्ष है। इस लोक के आग्रह से ही उन्हअॅने रसवाद की भारतीय परंपरा में निहित साधारणीकरण की अवधारणा को नया संदर्भ दिया। लेकिन शुक्लजी का लोकवाद कला- विरोधी नहीं है। विभिन्न कवियअॅ की समालोचना करते हुए उन्हअॅने 'उक्ति-वैचित्र्य' ,'वाग्वैदग्ध्य' , 'कला- वैचित्र्य' या 'रूप-विधान का वैलक्षण्य' -जैसी शब्दावली का प्रयोग किया है। अथवा उन्हअॅने काव्य में 'लालित्य' या 'माधुर्य' की मांग की है। स्पष्ट है कि कलात्मक आग्रह से उपजी माँग है। लेकिन कलात्मकता यदि जीवन की ठोस सच्चाई ओरयथार्थ-बोध से उपजी न हो और वह वायवीयता से प्रेरित हो तो शुक्लजी बेसाख्ता उसकी आलोचना करते हैं। छायावादी काव्य की आलोचना उन्हअॅने इसी आधार पर की है।

शुक्ल जी ने 'नए विषय' और 'नए विधान' की चर्चा की है। वे भारतेंदु के साहित्य में नए विषयअॅ के आगमन का श्रेय उन्हें देते हैं ,लेकिन नए विधान की कमी भी उन्हें खलती है। हिंदी भाषा और व्याकरण के लिए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के योगदान को स्वीकार करते हुए वे यह कहना नहीं भूलते कि कविता में बोलचाल की भाषा का प्रयोग करने के लिए उनके अत्यधिक जोर देने का दुष्परिणाम यह हुआ कि कविता में रूखापन आ गया और श्रीधर पाठक - जैसे कवि की स्वच्छंद काव्य-धारा का विकास नहीं हो पाया। छायावाद में इसकी संभावना थी, लेकिन वह लोकचित्त से जुड़ने की बजाए निजी कल्पना-लोक में दाखिल हो गया।

शुक्ल जी का योगदान

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी-आलोचना को ऐतिहासिक रूप से सुसंगत तथा वैज्ञानिक ढंग से प्रणालीबद्ध और व्यवस्थित रूप दिया।

2. शुक्लजी ने हिंदी साहित्य के इतिहास-दर्शन का आधार निर्मित किया। इसी वैचारिक आधारभूमि पर खड़े होकर वह यह देख सके कि किस तरह छायावाद अपने पूर्ववर्ती द्विवेदी युग के गद्यवत और रूखे इतिवृत्तात्मकता काव्य की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुआ।

3. शुक्ल जी ने भले ही छायावाद की प्रशंसा न की हो ,लेकिन छायावाद में लालित्य, सॅदर्यात्मकता और व्यंजकता का जो नया काव्य-गुण विकसित हो रहा था , द्विवेदी युग की कविता में उसकी अनुपस्थिति को उन्हअॅने रेखांकित किया है। दोनअॅ साहित्यिक प्रवृत्तियअॅ के अंतर्विरोध को उन्हअॅने कलात्मकता की दृष्टि से पहचानने का प्रयत्न किया। लोकमंगल को आत्यंतिक प्रतिमान मान लेने के कारण वे छायावाद के प्रति सहानुभूतिशील नहीं हो सके ,लेकिन उस में निहित स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति की अनदेखी भी नहीं कर सके।

छायावाद की स्वच्छंदता-मूलक चेतना की व्याख्या उनके परवर्ती आलोचकअॅ ने की। इनमें आचार्य नंददुलारे वाजपेयी प्रमुख हैं। दूसरी ओर शुक्लजी की लोकधर्मिता और जीवन-यथार्थ के प्रति उन्मुख दृष्टि का विकास आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना में दिखाई पड़ता है। शुक्लजी की वैचारिक भूमि पर हिंदी-आलोचना का ढांचा खड़ा करने का प्रयत्न इन दोनअॅ आचार्यों ने किया ,लेकिन शुक्लजी के बाद यूरोपीय समीक्षा की अधुनातन प्रवृतियअॅ का दबाव हिंदी -आलोचना पर पड़ने लगा था। फलस्वरूप अंतश्चेतनावादी आलोचना, मार्क्सवादी आलोचना और नई समीक्षा के नए आलोचना-केंद्र उभरने लगे। 1964 तक आते-आते इन आलोचना-पद्धतियअॅ के बीच टकराव की स्थितियां भी बनने लगीं।

में आधुनिक साहित्य के विकास के साथ-साथ आलोचना का भी क्रमशः विकास हुआ है. भारतेंदु-युग में नए-पुराने का द्वंद्व जिस तरह रचनात्मक साहित्य में सक्रिय था, वह आलोचना साहित्य में भी प्रकट हो रहा था। द्विवेदी-युग में भी यह किसी हद तक जारी था। भारतेंदु-युग में आलोचना की शुरुआत तो हो चुकी थी।,लेकिन रचना के सामाजिक और सॅदर्यात्मक मूल्य की पहचान की दृष्टि विकसित नहीं हो सकी थी। द्विवेदी-युग में भी आलोचना में वैचारिक और सॅदर्यात्मक परिपक्वता उत्पन्न नहीं हो पाई थी। मगर उस दौर में आलोचना की महत्वपूर्ण पद्धतियअॅ के विकास के संकेत अवश्य मिलने लगे थे।

- द्विवेदी-युग हिंदी-आलोचना के भीतर कम-से-कम पाँच तरह की प्रवृत्तियअॅ की पहचान की जा सकती है। पहली प्रवृत्ति है, शास्त्रीय आलोचना, जो संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा अर्थात लक्षण-ग्रंथ और काव्यशास्त्र से प्रेरित थी। दूसरी है, तुलनात्मक मूल्यांकन की पद्धति ,जो युगीन प्रवृतियअॅ की बजाय कवियअॅ तथा उनके काव्य के

गुण-दोष-विवेचन के आधार पर कमतर या श्रेष्ठतर ठहराने के आत्मगत निर्णय पर आधारित थे। तीसरी पद्धति अन्वेषण एवं अनुसंधान-परक आलोचना की प्रवृत्ति थी। यह प्रवृत्ति 1897 में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन के बाद विकसित हुई थी। इस पद्धति के तहत अनेक पुरानी पांडुलिपियॅ के प्रकाशन और उनकी खोज पर ध्यान एकाग्र किया गया। चौथी प्रवृत्ति परिचयात्मक आलोचना की थी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को इस प्रवृत्ति का पुरस्कर्ता माना जा सकता है। उनके द्वारा संपादित ' सरस्वती ' पत्रिका में कृति के परिचय, उस के विषय की उपादेयता, उसकी प्रशंसा अथवा निंदा के रूप में आलोचनात्मक टिप्पणियां लिखी गईं। पांचवीं प्रवृत्ति व्याख्यात्मक आलोचना है। व्याख्यात्मक आलोचना कृति तथा उसके अर्थ की यांत्रिक व्याख्या-मात्र नहीं थी। वह नैतिक-सांस्कृतिक और स ंदर्यपरक मूल्यॅ के आधार पर कृति के मर्म को उदघाटित करने का प्रयत्न करती थी। भारतेंदु-युग में इस तरह की आलोचना का सूत्रपात बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुंद गुप्त की कुछ समीक्षात्मक टिप्पणियॅ में हो चुका था, लेकिन यह शुरुआती प्रयास था। आगे चलकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सामाजिक विवेक और स ंदर्य-विवेक की कसौटी पर रचना का मर्म -विश्लेषण करने की पद्धति विकसित की। उन्हॅने पारंपरिक साहित्य-बोध को आधुनिक शास्त्रॅ की कसौटी पर जाँचा। उन्हॅने सही अर्थों में हिंदी-आलोचना को एक सुगठित और प्रणालीबद्ध अनुशासन के रूप में ढाला। हिंदी -आलोचना के स्थापक व्यक्तित्व के रूप में आचार्य शुक्ल का महत्व असंदिग्ध है। वे हिंदी-आलोचना के शिखर-पुरुष हैं।

आचार्य शुक्ल की आलोचना में सामाजिक विवेक ,नैतिक अंतर्दृष्टि और स ंदर्यबोध के साथ पारंपरिक शास्त्रीय दृष्टि का संतुलन दिखाई पड़ता है। उन्हॅने रहस्यवाद को खारिज नहीं किया , बल्कि उसे सामाजिक बोध और लोक-कल्याण से जोड़ कर नए संदर्भ में युक्तिसंगत बनाया। उन्हॅने ऐसे साहित्य की अनुशंसा की जो स ंदर्य और आत्मबोध के प्रत्यय - लोक से बाहर आ कर अत्याचार और अमानवीयता का प्रतिरोध कर सके। उनके लिए काव्य लोकमंगल की साधना है। आचार्य शुक्ल ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की परंपरा को आगे बढ़ाया। दोनॅ आचार्यों ने साहित्य में अंधशास्त्रीयता और रीतिवाद का विरोध किया। शुक्लजी ने रीतिवाद की बजाए यथार्थ-बोध को आधार बनाकर जायसी ,सूर और तुलसी के सृजन की नवीन संदर्भों में व्याख्या की। इस तरह उन्हॅने हिंदी-आलोचना की आधुनिक दृष्टि का विकास किया। रहस्यवाद के विरुद्ध उनका प्रतिवाद दरअसल रूढ़िवाद और पुनरुत्थानवाद के विरुद्ध सामाजिक यथार्थ के प्रति उनकी पक्षधरता का ही रूपांतर है। कला में अभिव्यंजनावाद का विरोध करते हुए वे दरअसल कलावाद और रूपवाद का प्रतिवाद कर रहे थे। शास्त्र और लोक के बीच संघर्ष में वे लोक के पक्ष में खड़े हुए। इन्द्रिय-बोध और वायवीयता के बीच द्वंद्व में उन्हॅने इन्द्रिय-बोध की तरफदारी की। उन्हॅने साहित्य को गतिशील जीवन से जोड़कर देखा। यह जीवन लोक- सामान्य का जीवन है। 'लोकमंगल' शुक्लजी की आलोचना का बीज-प्रत्यय है। वे इसे मूल्यांकन के प्रतिमान की तरह प्रयोग करते हैं।